ऋतुचक्र की वैज्ञानिकता

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

ऋतुचक्र प्रकृति के अधीन होता है। जिस भी तत्त्व से निसर्ग (सृजन के आधार) की अभिव्यक्ति होती है, वह तत्त्व ही 'प्रकृति ' संज्ञा द्वारा व्यवहृत किया जाता है। यह प्रकृति तत्त्व ब्रह्म में शक्तिरूप से समाहित था। लोकरचना को लक्ष्य कर सर्वप्रथम ब्रह्म ने ही प्रकृति को उत्पन्न किया। उस समय यह प्रकृति पाँच रूपों वाली थी। प्राण अर्थात् वायु, आप अर्थात् जल, वाक् अर्थात् वाणी, अन्नाद अर्थात् प्राणी एवं अन्न अर्थात् वनस्पति। ये पाँच प्रकृतियाँ स्थायी रूप से पहले से ही ब्रह्म में विद्यमान थीं। जब ब्रह्म सविता के रूप में अभिव्यक्त हुआ, तब उसके तप को धारण करने के लिए ऋत एवं सत्य आविर्भूत हुए। इन ऋत एवं सत्य में जो ऋत था, वह सक्रिय होने के कारण प्रकृति को पूर्णतया प्राप्त हो गया और जो सत्य था, वह स्थिर होने के कारण ब्रह्म में ही अवस्थित रहा। यह ऋत ही ऋतुओं के आविर्भाव का मूलभूत कारण तत्त्व है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि सोम एवं अग्नि का एक मात्र यही नियंत्रक तत्त्व था।

लोक में दृश्यभूत पदार्थों की सत्यता एवं अस्तित्वमयता में भी ऋत ही कारण है, अतएव ऋत सत्यगर्भित होता है, ऐसा कहा जाता है। इन ऋत एवं सत्य में पौर्वापर्य नहीं होता । गाय के सींगों के समान एक साथ उत्पत्ति एवं एक साथ ही संस्थिति माननी चाहिए। तप से उत्पद्यमान होने के कारण तप के ही प्रभाव से प्रभावित ये दोनों संवत्सर चक्र में प्रवर्त्तमान होते हैं। सत्यगर्भित ऋत का उसी से संकोच एवं प्रसार सम्भव होता है। उससे पुनः सोम एवं अग्नि का भी संकोच एवं प्रसार सम्भव होता है। उनमें जब सोम का संकोच होता है, तब अग्नि का प्रसार होता है तथा जब अग्नि का संकोच होता है तब सोम का प्रसार होता है। ऐसा होने पर प्राथमिक अवस्था में सोम के संकोच एवं अग्नि के प्रसार से क्रमशः उष्णता का प्रारम्भ होता है। द्वितीय अवस्था में अग्नि के संकोच एवं सोम के प्रसार से शैत्य (सर्दी) का प्रारम्भ होता है। शैत्य एवं उष्णता में न्यूनाधिक्य से ऋत में भी न्यूनाधिक्य सम्भव होता है। उस न्यूनाधिक्य का बोधक (कालावधि विशेष) ऋतु कहा गया है।

ऋत का न्यूनाधिक्य तीन स्तरों वाला होता है - सामान्य, मध्यम एवं अधिक। ऐसा मानने पर उष्णत्व जब सामान्य मध्यम एवं अधिक होता है, तब यह ऋत पुनः तीन रूपों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यह ऋत छः अवस्थाओं वाला हो जाता है। ऋत की ये छः अवस्थाएँ ही छः ऋतुएँ कही जाती हैं। अतएव कहा गया है कि इन

अग्नि एवं सोम के अन्वयसम्बन्धगत तारतम्य से तारतम्य को प्राप्त करने के कारण ऋतुएँ भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। ये ऋतुएँ समान आयाम वाली होती हैं, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित किया गया है-

'ऋतुओं की सृष्टि हुईं। वे उत्पन्न होने पर अनेक थीं। वे बोलीं - इस प्रकार होते हुए हम प्रजनन में समर्थ नहीं हो सकतीं। हमें रूपों से समान आयाम वाली हो जाना चाहिए। तत्पश्चात् वे एक एक ऋतु रूपों से युक्त हो गयीं। इस कारण एक ऋतु में सभी ऋतुओं के रूप विद्यमान होते हैं।[1]'

वेदविज्ञान में ऋतुओं का दो प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त होता है। इस विषय में प्रथमतया कुछ विद्वान् सवन के त्रैविध्य के कारण ऋतुओं का तीन होना प्रतिपादित करते हैं। तीनों ही ऋतुओं में प्रत्येक की दो दो अवस्थाओं के भेद से युक्त होने के कारण जो छः प्रकार वाला होना कहा गया है, वह केवल अवस्थाओं का ही जानना चाहिए, न कि ऋतुओं का, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। उनका अभिप्राय निम्नानुसार कहा जा सकता है :-

शीत ऋतु के चार मास होते हैं, उनके बाद दो मास संधि के होते हैं। फिर उष्ण (ग्रीष्म) ऋतु के चार मास होते हैं तथा उनके बाद फिर दो मास सन्धि के होते हैं। चार चार मास उन शीत एवं उष्ण के अपने अत्यय (समृद्धि) के कारण समान कालावधि के होते हैं। इनसे ही शीत, उष्ण (ग्रीष्म) एवं वर्षा काल के रूप में ये तीन ऋतुएँ सम्भव होती हैं।

कतिपय अन्य विद्वान् सूर्य के दक्षिण अयन में प्रवेश के दिन से ऋतु प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। उस समय से लेकर वे एक ऋतु का 72 दिन का अभिप्लव (प्रभावकाल) बतलाते हैं। इस प्रकार उनके मत में पाँच ही ऋतुएँ होती है। वे इस प्रकार हैं:- वर्षा, शरद्, शीत, वसन्त एवं ग्रीष्म। यहाँ हेमन्त एवं शिशिर को एक ही ऋतु माना गया है। उसे ही शीत संज्ञा द्वारा कहा गया है। पाँच ऋतुएँ स्वीकार करने के विषय में वेदविज्ञान का अभिमत प्रकट करते हुए पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैं, कि पाँक्त यज्ञ के पाँच पर्व होते हैं, अतः ऋतुएँ पाँच ही माननी चाहिए। ये पाँच ऋतुएँ, प्रत्येक 72 दिवसात्मक जाननी चाहिए। इनके कालनिर्धारण के विषय में भी उन्होंने कहा है-

'दक्षिणायन प्रवेश दिवस के लेकर 72 दिवसात्मक अभिप्लव के क्रम से वर्षा, शरद्, शीत, वसन्त एवं ग्रीष्म ये पाँच ऋतुएँ होती हैं। इनमें भी एक एक ऋतु में तीन तीन भागों की कल्पना करनी चाहिए। पहले 16 दिवस प्रातः सवन के रूप में मानने चाहिए, ये ही प्रस्ताव हैं। तत्पश्चात् 40 दिवस माध्यन्दिन सवन के रूप में मानने चाहिए, ये उद्गीथ हैं। फिर 16 दिवस सायं सवन के रूप में मानने चाहिए, ये निधन हैं।[2]'

उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्रत्येक ऋतु तीन सवनों का आदान (ग्रहण) करती है। उसी आधार पर

काल का संकलन करने से इनका 72 दिवसात्मक होना सिद्ध होता है।

दूसरे कतिपय विद्वान् अपेक्षानुगत ऋतु व्यवस्था को मानने वाले 'छः ऋतुएँ होती हैं', ऐसा कहते हैं। उनके मतानुसार आपेक्षिक ऋतु व्यवस्था में वसन्त आदि शब्द द्यावापृथिवी के संयोग के वैचित्र्य का उपनिबन्धन करने वालों की भाँति व्यवस्थित हुए हैं, जैसे पृथ्वी एवं सूर्य के क्रमशः दूर होने से अथवा क्रमिक दूरी के बढ़ने से क्रमशः वसन्तादि सम्भव होते हैं। (इसी प्रकार) पृथ्वी एवं सूर्य के क्रमशः समीप होने अथवा क्रमशः सामीप्य बढ़ने से क्रमशः शरदादि सम्भव होते हैं। ऐसा मानने पर विवक्षा के वैशिष्ट्य से अनेक प्रकार की कल्पनायें निर्दिष्ट हुई हैं। जैसेः- ''छः ऋतुएँ दो दो राशियों के क्रमविभाजन के आधार पर कल्पित की जाननी चाहिए। उत्तरायण में विषुवत् रेखा के दोनों ओर तीस तीस अंशों तक वसन्त ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् उनके आगे के साठ अंशों तक ग्रीष्म ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् पुनः उनसे आगे के साठ अंशों तक हेमन्त ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् पुनः उनसे भी आगे के साठ अंशों तक शिशिर ऋतु माननी चाहिए[3]।

इन छः ऋतुओं की पृथक्ता सोम अग्नि एवं वायु के तारतम्य से जाननी चाहिए। जो पाँच ऋतु कहने वाले हैं, वे केवल सोम एवं अग्नि के तारतम्य से ही ऋतुओं की कालावधि निर्धारित करते हैं और जो छः ऋतुएँ कहने वाले हैं वे सोम, अग्नि एवं वायु के तारतम्य से उनकी अपेक्षा विशिष्ट कालावधि निर्धारित करते हैं। इस विषय में कहा गया है:-

एक मात्र ऋताग्नि ही सोम की अपेक्षा जब ह्रास एवं वृद्धि को प्राप्त करती है, तो उससे ऋत रूप में विद्यमान सोम अग्नि वायु ही छः ऋतुएँ कही जाती हैं।[4]

अब इन छः ऋतुओं के विषय में विशेष रूप से कहते हैं, जिनसे उनका स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा-

वसन्त ऋतु – व्ययशेष अग्नियाँ जिसमें निवास करती हैं या विद्यमान रहती हैं, वह ऋतु 'वसन्त' नाम से कहा जाता है अर्थात् इससे पूर्व अग्नियाँ अल्पावशिष्ट होती हैं। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि ऋतुओं के उत्पादन में दस प्रकार की अग्नियाँ प्रवृत्त (सक्रिय) होती हैं। उनमें प्रमुख है गायत्राग्नि। इसके अतिरिक्त आठ धिष्ण्याग्नियाँ हैं तथा एक अतिरिक्त अग्नि सावित्राग्नि है। इन अग्नियों में गायत्राग्नि सदैव समान रहती है। पृथ्वी से अत्यन्त दूर होने के कारण तथा दिक्सोम से तारतम्य के अभाव के कारण। जो उसके अतिरिक्त आठ धिष्ण्याग्नियाँ हैं, वे गतिभेद से प्रत्येक संवत्सर (वर्ष) में अन्यान्य (विभिन्न) रूपों में प्रवृत्त होती हुई प्रतिक्षण विषमता को प्राप्त करती हैं। यह विषमता गायत्राग्नि की समता से इस वसन्त ऋतु में समीकृत की जाती है। इसके परिणामस्वरूप साम्य एवं वैषम्य के

अभाव की प्रतीति उष्णता के आधार पर इस काल में जाननी चाहिए। इनके अतिरिक्त जो सावित्राग्नि है, वह दिन में बढ़ने से थोड़ा प्रभाव उत्पन्न करती है, किन्तु रात्रि में पुनः घट जाने से प्रभावरहित हो जाती हैं। फलस्वरूप वसन्त में अग्नियाँ प्राणियों को कष्ट की अनुभूति नहीं करातीं, अपितु दिन एवं रात्रि दोनों समय ही रमणीय प्रतीत होते हैं।

ग्रीष्म ऋतु – ग्रीष्म वह ऋतु है जिसमें अग्नियाँ अपने आन्तरिक एवं बाह्य बल से महाभूतों को ग्रहण करती हैं। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में पाँचों ही महाभूत दशविध अग्नि के प्रभाव से प्रभावित होते हैं। जैसा कि द्यौ गायत्राग्नि के सामीप्यातिशय के कारण अत्यन्त उत्तप्त होता है। इससे आकाश महाभूत भी प्रकृष्ट रूप में तप्त हो जाता है। धिष्ण्य अग्नियों के प्रभाव से अन्तरिक्ष में विद्यमान वायु भी प्रकृष्ट रूप में तप्त हो जाता है। स्वयं अग्नि भी अपने उद्ग्राभ (उन्नयन) से तेजोराशियों से परिपूर्ण होता है। सावित्र अग्नि के प्रभाव से पृथिवी तथा पृथिवी पर विद्यमान जल ये दोनों महाभूत भी उत्तप्त हो जाते हैं। कुछ विद्वान् यहाँ 'रसों का अतिशयपूर्वक' ग्रसन करती है, इस कारण इस ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं' ऐसी भी व्युत्पत्ति दर्शाते हैं। सभी रस इस समय क्षय को प्राप्त करते हैं। इस कारण पदार्थों की आर्द्रता में न्यूनता आ जाती है और इसी प्रकार ताप की प्रबलता से अनुभूति होती है। सायंकाल सावित्र अग्नि के प्रभाव की न्यूनता के कारण रमणीय प्रतीत होता है।

वर्षा ऋतु – अग्नियों की चरमोत्कर्ष पर संस्थिति ही वर्षा हैं। इसमें तीनों प्रकार की अग्नियाँ (गायत्राग्नि, धिष्ण्याग्नि एवं सावित्राग्नि) उद्ग्राभ (उन्नयन) रूप लक्षण से युक्त हो जाती हैं। अर्थात् जब ऋतुकारक दशविध अग्नि का उत्कर्ष चरमसीमा पर होता है, तब वे दशविध अग्नियाँ वरीयता को प्राप्त कर लेती हैं। इससे प्राकृत यज्ञरूपी अभिप्लव के क्रम से सूर्यरश्मियों में विद्यमान जल का प्रस्रवण सम्भव होता है, वही वर्षा नाम से लोक में जाना जाता है। वेदविज्ञान के अनुसार वृष्टि सोम की होती है। सोम ही जल के रूप में परिणत हो जाता है। अग्नि के अतिशय से संतप्त हो जाने के कारण। यहाँ पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैं, कि जब अन्तरिक्षवर्त्ती धिष्ण्य अग्नियाँ पूर्ण उद्ग्राभ (उन्नयन) को प्राप्त कर लेती हैं, तब उनके प्रभाव से ब्रह्माग्निरूपी वायु क्षुब्ध हो जाता है। क्षोभ के कारण उसमें विद्यमान सोम के परमाणुओं में घर्षण की स्थिति बनती है और जल उत्पन्न होता है। तेज के संयोग से ही जलों का जैसे पूर्व में विलयन होता है, वैसे ही बाद में संघात भी होता है। वही इस समय प्रस्रव को प्राप्त करता है।[7] तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है -

'अग्नि ही यहाँ से वृष्टि को उत्प्रेरित करती है। मरुद्गण उस उद्भूत वृष्टि को प्राप्त करते हैं। और जब यह आदित्य नीचे की ओर विद्यमान रश्मियों से पर्यावृत्त हो जाता है, तो वृष्टि होने लगती है।[5]'

शरद् ऋतु – शरद् वह ऋतु है, जिसमें अग्नियाँ आय से अधिक शीर्ण हो जाती हैं। अर्थात् जब अग्नियों की शीर्णता आपेक्षिक दृष्टि से अधिक होती है अथवा सामान्य अग्निक्षय की अपेक्षा अग्निक्षय की अधिकता जब अनुभूत होती है, तब शरद् ऋतु आविर्भूत होती है, ऐसा माना जाता है। वेद विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे अग्नि का क्षय पूर्व की अपेक्षा इसमें वृद्धि को प्राप्त करता है, वैसे वैसे सोम का उद्ग्राभ (उन्नयन) भी क्रमशः बढ़ता हुआ लक्षित होता है। यह स्थिति संवत्सर के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में उत्पन्न होती है। विशेष रूप से यहाँ यह जानना चाहिए कि जिस अग्नि का क्षय यहाँ कहा गया है, वह केवल सावित्राग्नि का ही है। अर्थात् शरद् ऋतु में धिष्ण्य अग्नियों का क्षय नहीं होता, किन्तु सावित्राग्नि के क्षय से केवल अग्नि में प्रभावशून्यता उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप पृथ्वी पर प्राणी शीत का अनुभव करते हैं। अग्नि के आनुक्रमिक अपक्षय से ही शरद् यह संज्ञा भी सार्थकता को प्राप्त करती है। जैसा कि ओझा महोदय ने कहा है :-

'जिस प्रकार अग्नियों का वसन्त में क्रमिक उपचय (समृद्धि) होता है उसी प्रकार इस समय (शरत्काल में) क्रमिक विशरण (अपक्षय) होता है, अतः इसे शरद् कहते हैं।'[6]

हेमन्त ऋतु – हेमन्त वह ऋतु है, जिसमें वायु में विद्यमान अग्नियाँ बाहर निकल जाती हैं, अतः वायु में अग्नियों की हानि के कारण ही इसे हेमन्त कहा गया है। अर्थात् जब अन्तरिक्ष में विद्यमान वायु में भी अग्नि का क्षय हो जाता है, तब वह काल हेमन्त ऋतु कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि धिष्ण्य अग्नियों का भी अपक्षय इसमें क्रमशः प्रारम्भ हो जाता है। उससे वायु में भी शीतलता की अनुभूति प्राणिमात्र को होने लगती है। आठों धिष्ण्याग्नियों में गतिभेद से कभी न्यूनता तो कभी अधिकता का अनुभव होता है। दिक्सोम के उद्ग्राभ (उन्नयन) के कारण भी वायु में शीतलता की वृद्धि इस समय स्वाभाविक रूप से होती है। गायत्राग्नि का क्षय नहीं होता, किन्तु सावित्राग्नि एवं धिष्ण्य अग्नियों के अपक्षय से अग्नि की अपने अधिकांश में हीनता सम्भव हो जाती है। कुछ अन्य विद्वान् हेमन् को तुषार का वाचक शब्द मान कर उसके आधिक्य के कारण हेमन्त संज्ञा से इस कालखण्ड को जाना जाता है, ऐसा भी कहते हैं।

शिशिर ऋतु – शिशिर ऋतु के विषय में आचार्य यास्क लिखते हैं - 'शिशिर' शब्द 'शमु' या 'श्रृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। ('शमु' धातु का अर्थ है शान्ति अर्थात् जब अग्नि की शान्ति हो जाती है, तो उसे शिशिर कहते हैं या 'श्रृ' धातु का अर्थ है शीर्ण होना अर्थात् आत्यन्तिक क्षय। जब अग्नि का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, तो उसे शिशिर कहते हैं।[8] अर्थात् जिस काल में अग्नि के आत्यन्तिक क्षय की अनुभूति होती है, वह काल शिशिर संज्ञा वाला होता है। पण्डित मधुसूदन ओझा महोदय इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं-

'अग्नि के अंश पुनः पुनः अतिशय से जिस समयावधि में शीर्ण हो जायें, वह अत्यन्त क्षीण अग्नि वाला तथा सोमप्रधान वायु का काल शिशिर कहा जाता है।[9]'

ओझा महोदय की उक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है, कि इस कालखण्ड में वायु में सोम की अत्यन्त वृद्धि होती है तथा अग्नि का अत्यन्त क्षय सर्वत्र देखा जाता है। इस अवधि में गायत्राग्नि के भी क्षीण हो जाने से न केवल अन्तरिक्ष में, अपितु द्यौ में भी शीतलता (शीताधिक्य) उत्पन्न हो जाती है। पृथिवी पर तो सोममय वायु से शैत्य का चरमोत्कर्ष दिखायी देता ही है।

सन्दर्भः

1. शतपथब्राह्मण - 8/7/2/4
2. पितृसमीक्षा / पृ. 40
3. पितृसमीक्षा / पृ. 40
4. तैत्तिरीयसंहिता - 2/4/5
5. तैत्तिरीयसंहिता - 2/4/10
6. पितृसमीक्षा / पृ. 40-41
7. पितृसमीक्षा / पृ. 41
8. तैत्तिरीयसंहिता - 2/7/13
9. पितृसमीक्षा / पृ. 41